एक निर्मल स्मृति

ओम थानवी

चिता अभी आधी भी नहीं जली थी। सब लोग लौट चुके थे। प्रभाष जी हैरानी प्रकट कर रहे थे कि दिल्ली में शवदाह का यह अजीब रिवाज है। चिता से अग्नि की छुअन के साथ ही वापसी की पदचाप शुरू हो जाती है। हम चिता की बगल में पत्थर की एक बेंच पर बैठे थे। चिता की आंच और राख रह-रहकर इसी तरफ आती थी। हर झोंका आग की लपटों के साथ यादों के अनगिन थपेड़े साथ लाता था।

मेरी सूनी नजर चिता पर टिकी थी, बल्कि उनके कपाल पर। मगर जो दिखता था वह चिता नहीं थी। अतीत के दृश्य, एक के बाद एक और कभी एक-दूसरे पर गड्डमड्ड होते हुए, आंखों के सामने तैरते निकल जाते थे। सत्ताईस साल पहले बीकानेर में हुई पहली मुलाकात से लेकर कल रात उनकी आखिरी सांसों की चाल तक के मंजर इस तरह जिंदा थे कि मुझे अपनी याददाश्त पर हैरानी होती थी।

कल रात की घटना तो लगता है क्षण-भर पहले की हो। निर्मल जी की सेवा में डटी गगन गिल का घबराए स्वर में फोन आया कि हालत बिगड़ती जा रही है। उस वक्त मैं इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में परिवार के साथ एक फिल्म देख रहा था। बेटी को वहीं छोड़, मैं और पत्नी फौरन एम्स पहुंचे। आईआईसी से निकलते वक्त रामू (प्रो. रामचंद्र) गांधी ने रमण महर्षि का एक छोटा चित्र थमाते हुए कहा कि इसे मेरे अजीज मित्र के तकिए के नीचे रख देना। गहन चिकित्सा कक्ष का लबादा पहन मैं भीतर गया। निर्मल जी की सांस चल रही थी। उनके चेहरे पर कुछ रोज की दाढ़ी उग आई थी। ऐसा शायद पहली बार हुआ था। अस्पताल के प्राइवेट वार्ड में भी वे अपनी दाढ़ी कभी बढ़ने नहीं देते थे। मैंने देखा, उनके पीछे आधुनिक संयंत्रों का जंजाल है और तारों का जाल उनसे निकलकर निर्मल जी के अंग-अंग पर छाया हुआ है। बायीं हथेली मेरे ठीक सामने थी। अंगुलियां सूजी थीं और उनकी पोरों में खून जमा था।

रामू गांधी की दी तस्वीर मैंने उनके तकिए के नीचे रख दी। मेरे मुंह से अनायास निकला- 'निर्मल जी!' मुझे लगा उनमें कुछ हरकत हुई। डॉक्टर ने कहा, भ्रम हुआ होगा। ये 'ब्रेन-डेड' हैं। वापस नहीं आएंगे। हां, सांस थमने में जरूर वक्त लग सकता है। मैं कक्ष से बाहर निकलकर आठवीं मंजिल से पांचवीं मंजिल के प्राइवेट वार्ड में, जैसे अपने आपको अनिष्ट के लिए तैयार करते हुए, पहुंचा और निर्मल जी की बहन और रामकुमार जी की पत्नी से कहा कि आज की रात निकल जाएगी। उन्होंने राहत की सांस ली। पर उसी वक्त गगन के भाई ने आकर कहा: निर्मल जी चले गए।

जीवित रहने और न रहने में इतना मामूली फर्क हो सकता है, मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया था।

प्रभाष जी ने पुण्य प्रसून और अभी-अभी आ पहुंचे प्रियदर्शन से मुखातिब होते हुए शवयात्रियों के आने-जाने का जिक्र छेड़ा तो सहसा मुझे वात्स्यायन जी की अंतिम यात्रा का स्मरण हो आया। निगम बोध घाट पर 'अज्ञेय' भस्मीभूत हो चुके थे। तब शोकाकुल लोग धीमे-धीमे वापस हुए थे। रघुवीर सहाय को कोई कंधे पर हाथ रखकर कहता था कि अब आप चलें। विलाप करती कपिला जी को ढाढस बंधाकर लोग घर भेज चुके थे। सबके साथ इला जी को भी हमने जाते देखा। अशोक शास्त्री और मैं जयपुर से आए थे। कुछ देर के लिए हम लोग बाहर निकल आए और थोड़ी देर बाद घाट लौटकर विस्मय से देखा कि चबूतरे पर, जहां 'अज्ञेय' की चिता बुझ रही थी, सफेद साड़ी में इला जी अपलक अकेली खड़ी हैं। हम दबे पांव बाहर लौट आए।

निर्मल जी के साथ वात्स्यायन जी की याद मुझमें जब-तब यों भी उमड़ आती है। दोनों से एक साथ मुझे पहली मुलाकात का मौका मिला था। १९७८ में वे राजस्थान साहित्य अकादमी के 'नवांकुर लेखक सम्मेलन' में हिस्सा लेने बीकानेर आए थे। निर्मल जी धीमे स्वर में बहुत सोच-सोच कर बोलते थे, खुद अपने से बात-सी करते हुए, शब्दों के बीच एक लयभरा ठहराव देते, जैसे हर शब्द में नई जान भरने की कोशिश कर रहे हों।

हम सुनने वालों को उन्होंने अपने वक्तव्य से सही अर्थों में मंत्र-मुग्ध कर दिया। लेकिन जैसे अपने उद्बोधन पर खुद उन्हें शंका हो, वे बाद में वात्स्यायन जी के करीब प्रश्नाकुल मुद्रा में आकर खड़े हो गए।

अक्सर अपनी राय न देने वाले 'अज्ञेय' ने उनकी संक्षिप्त मगर उन्मुक्त तारीफ की। एक राहत मैंने निर्मल जी के चेहरे पर साफ पसरते देखी, मानो किसी अंधी गुफा से वे बाहर निकल आए हों। (यह जुमला उन्होंने उसी भाषण में सभ्यता के संकट के लिए प्रयोग किया था) पूरे सम्मेलन के संवाद से वात्स्यायन जी जरूर संतुष्ट नहीं थे और अपने समापन भाषण में उन्होंने कहा कि वहां 'बात कम हुई, चीत ज्यादा'।

बहरहाल, एक पहुंचे हुए लेखक की उस ऊहापोह पर मैंने कोई बीस बरस बाद, जब निर्मल जी के साथ संबंध गहरा हो गया, सवाल खड़ा किया। निर्मल जी ने जवाब में एक किस्सा सुनाते हुए कहा कि पेशेवर वक्ता को छोड़कर हर रचनाकार के साथ ऐसा होता है। उन्होंने बताया कि बीकानेर के सम्मेलन के कई साल बाद दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में उस दफा पहले वात्स्यायन जी के बोलने की बारी थी। चाय के लिए हॉल से बाहर आते ही उन्होंने निर्मल जी से पूछा, ''पास कि फेल?'' निर्मल जी अचकचा गए और उनके सवाल को समझ नहीं सके तो वात्स्यायन जी ने मुस्कुराते हुए फिर कहा, मुझे कितने नंबर मिले? निर्मल जी के मुंह से निकला, ''फर्स्ट क्लास! फर्स्ट क्लास फर्स्ट!'' मुझे लगा जवाब देते हुए, बड़ी आंखों में मासूम चमक के साथ, निर्मल जी के दाएं हाथ की अंगुली मद्धम गति से हवा में लहराई होगी।

लेखक की इस ऊहापोह के बारे में निर्मल जी से कई बार बात हुई। वे कहते थे कि जो कुछ तय कर लिखना शुरू होता है, वह रचना पूरी होने के बाद बहुत पीछे छूट जाता है। यहां तक कि छपने के बाद भी कभी-कभी संशय बना रहता है। अगर किसी प्रसिद्ध रचना के बारे में मैंने अपनी राय रखी कि अमुक अंश में अनावश्यक विस्तार लगता है या पात्र ज्यादा तर्क-प्रधान हो गए हैं तो बगैर झिझके वे कहते थे कि मुझे तुम्हारी बात ठीक जान पड़ती है! मुझे लगता वे मेरा दिल रख रहे हैं। लेकिन ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते वक्त जब मैंने इस विषय पर उनके आत्म-स्वीकार को सुना तो उनकी विनय और ईमानदारी पर द्रवित हो उठा। उन्होंने कहा था कि यह पुरस्कार मेरे लिए नहीं उन पुस्तकों के लिए है, ''जिन्हें मैंने अनेक आत्म-संशयों और शंकाओं के कुहासे के बीच लिखा था; जहां जितना सत्य दिखाई देता था, उससे कहीं ज्यादा छिपा रहा था...।''

मृत्यु के थोड़ी देर बाद जब मैं उनकी छोटी बहन निर्मला से बात कर रहा था, उन्होंने बताया कि अक्सर निर्मल जी लिख-लिखकर बहुत सारा काट देते थे। बहनें अगले रोज छुपकर उनकी अधूरी कहानी पढ़ने पहुंचतीं और पातीं कि वह और अधूरी हो गई है। तब वे भाई को छेड़तीं कि- निर्मल, तुम लिखते कम, काटते ज्यादा हो!

बीकानेर में हुई सामान्य भेंट के दो वर्ष बाद वत्सल निधि की तरफ से लखनऊ के साक्षरता निकेतन में जो पहला लेखक शिविर आयोजित हुआ, उसमें मुझे भी आमंत्रण मिला। वहां निर्मल जी के निकट आने का और अवसर हासिल हुआ। बाद में दिल्ली जाने पर जब कभी उनसे मिलने का मन हुआ, पता चलता कि वे विदेश प्रवास पर हैं।

१९८९ में चंडीगढ़ पहुंचने के बाद उनसे भेंट का नया सिलसिला शुरू हुआ। दस साल बाद दिल्ली आने पर तो वह नियमित ही हो गया। किसी शाम मैं उनके घर चला जाता था या वे मेरे घर आ जाते। आईआईसी में भी अक्सर उनसे मिलना हो जाता था। वहां के माहौल में उन्हीं की बैठक मुझे अपने लिए ऐसी जान पड़ती थी कि बगैर बुलाए कुर्सी खींचकर उनके साथ बैठ सकता। पता नहीं उनसे क्या तार जुड़ता था कि लोगों को हमेशा गंभीर दिखने वाले निर्मल जी कई बार किस्से सुनाते, लतीफों पर ठहाके लगाते और शरारत भरी चुटकियां भी लेते थे।

एक दफा कुछ कवि-लेखकों की कंजूसी का जिक्र चला। मैंने कहा, 'वे लोग कभी अपनी जेब में हाथ नहीं डालते..।' आगे का वाक्य उन्होंने खुद पूरा कर दिया- 'क्योंकि वे दूसरों की जेब में हाथ डाल देते हैं!' अपने मजाक पर वे बड़ी जोर की हंसी हंसते, गर्दन थोड़ा झुकाकर, जैसे अपनी चुटकी पर मुदित भी हों और झेंप भी रहे हों। एक दफा उन्होंने कुछ इसी तरह मुझ पर भी चुटकी ली। मैंने कहा मैं कितना कृतज्ञ महसूस करता हूं कि आप सरीखे लेखकों को पढ़-पढ़ कर मैं हिंदी सीख गया और पत्रकार बन गया...। वे बोले, 'वाह! तुम हमें पढ़-पढ़कर कहां के कहां पहुंच गए और हमें देखो हम करोलबाग से पटपड़-गंज पहुंच गए!' उन्होंने 'पट-पड़' की 'पढ़-पढ़कर' से तुक मिलाई थी। बाद में मैंने यही बात भोपाल में एक संगोष्ठी में भी कही कि निर्मल जी और दूसरे हिंदी साहित्यकारों के पाठ की बदौलत कैसे वाणिज्य की पढ़ाई करके मैं हिंदी पत्रकारिता में आ गया। निर्मल जी ठीक मुझसे अगली कुर्सी पर बैठे थे। मैंने देखा वे मेरी बात कुछ ऐसे सुन रहे हैं जैसे पहली बार सुन रहे हों। उन्हें खूब याद रहता था, पर मुझे लगा अब शायद उनका भूलने का दौर शुरू

हो गया है। लेकिन यह मेरी भूल थी। अंतराल में बाहर निकले तो निर्मल जी बोले, 'तुम कॉमर्स के विद्यार्थी थे?' मैंने कहा, 'और क्या। साहित्य तो स्वैच्छिक पढ़ा है।'

'मगर उस रोज तुमने यह नहीं बताया था!...' उस रोज, यानी पटपड़गंज वाली चुटकी के वक्त।

स्मृति निर्मल जी का प्रिय शब्द था और उनकी अपनी स्मृति हमेशा तीव्र बनी रही। उनकी आंखों की तरह। उन्हें दूर देखने के लिए कभी चश्मा नहीं लगाना पड़ा।

निर्मल जी का साहित्य मैंने कमोबेश पूरा पढ़ा है। अनेक कृतियां एकाधिक बार। 'अंतिम अरण्य' को तीसरी बार शिमला ले जाकर पढ़ा। अजीब संयोग था कि 'पीटर हॉफ' के लॉन में धूप सेंकते हुए मैं जब उपन्यास पढ़ रहा था, निर्मल जी का फोन आया। मैंने उन्हें बताया कि पहाड़ की दास्तान पहाड़ों के बीच पढ़ने का अलग ही सुख है। उपन्यास पर देर तक बात होती रही। मेरी प्रतिक्रिया वे गौर से सुनते रहे।

मैंने तब कहा था कि इस उपन्यास को पढ़ते हुए कई कलाओं का आस्वाद एक साथ मिलता है। एक अंश की मैंने ध्रुपद के आलाप से तुलना की और दूसरे की सिनेमा से। सिनेमा वाली बात लगा उन्हें बहुत जंची। मैंने कहा कि इस उपन्यास पर फिल्म बनाने वाले को ज्यादा कुछ नहीं करना पड़ेगा। मैंने उस अंश का हवाला दिया जिसमें निरंजन बाबू के साथ ऊंचाई पर हवा को सुनने के सुख का वर्णन है। निर्मल जी लिखते हैं: 'धीरे-धीरे सारा आकाश तारों से भर आया था। एक हल्का-सा आलोक चारों ओर फैला था, पेड़ों पर, लॉन पर, कॉटेज पर... हवा में झूला अपने आप, अपनी ही खुमारी में झूल रहा था।'... या जंगल से लौटते वक्त उस संकरी पगडंडी पर बातचीत का दृश्य जिस पर दो व्यक्ति आगे-पीछे ही चल सकते हैं। मैंने कहा कि यह एक दृश्य नहीं, पूरी दृश्यावली है। व्यापक दृश्य, धीमे-धीमे सरकते हुए, कैसे किसी क्लोजप की तरह नजदीक जाकर ठहर जाता है...।

निर्मल जी बोले, 'तुम्हें इस उपन्यास पर यह सारा अनुभव एक लेख की शक्ल में लिखना चाहिए।' मैंने कहा, 'साहित्य में एक पत्रकार की इस उड़ान का लोग मजाक बनाएंगे।' उन्होंने कहा, 'बिल्कुल नहीं। लोगों के लिए यह बहुत रुचिकर होगा।' बाद में दिल्ली में इस नजरिए के इर्द-गिर्द उनके साथ मैंने अपनी यह बयानबाजी जारी रखी। पर लिखने का साहस कभी जुटा नहीं पाया।

निर्मल जी गंभीर लेखक थे, मगर उनके व्यक्तित्व के दो पहलू थे। गंभीर और अलमस्त। हालांकि उनकी मस्ती, चुहल और हंसी-ठट्ठे पर भी गंभीरता का बोझ बीच-बीच में अनचाहे लद जाता था। ठहाका लगाते हुए उनका सिर छत की तरफ न जाकर फर्श की तरफ मुड़ता था। हंसी में आवाज पर काबू पाने की अपनी सफल कोशिश में कभी-कभी उनकी बत्तीसी, जो उन्होंने सार्वजनिक तौर पर कभी बाहर नहीं रखी, के बीच से सिर्फ हवा फूटती दिखाई पड़ती थी। गोया हम किसी मूल फिल्म में हंसने का दृश्य देख रहे हों। हंसी में आवाज के असर को भले वे किसी तरह दबा लेते हों, उनका पोर-पोर पुलकित चेहरा उनके उस आनंद को खूब उजागर कर देता था, जो आज के दौर में (ज्यादातर ओढ़ी हुई) गंभीरता और कहीं-कहीं मनहूसियत भरे माहौल में दुर्लभ हो चला है।

उम्र के आखिरी पड़ाव में उनमें बेचैनी ज्यादा दिखाई पड़ती थी। उत्तेजित वे कभी भी हो सकते थे। अंतरंग बैठकों में अनिच्छुक उत्तेजना भी उमड़ आती थी। कभी-कभी तनाव के अजीब दृश्य उपस्थित हो जाते थे। मगर उनका तनाव किसी न किसी वैचारिक असहमति के साथ भड़कता था। इसका वे पछतावा भी शायद नहीं करते थे। रात-गई-बात-गई के अंदाज में अगले रोज सहज रूप में पेश आते थे। कई दफा मेरे सामने वे अशोक वाजपेयी, के बिक्रम सिंह, प्रयाग शुक्ल से लेकर पत्नी गगन गिल तक से उलझे। एक बार गगन ने कार खरीदने का मन जब बना लिया तो वे कई रोज बेचैन रहे। वे सोचते थे, तिपहिए से आने-जाने में कम झंझट है। उन्हें शायद यह भी लगा कि कार के लिए मैंने गगन को उकसाया है। उन्होंने ऐसा कभी कहा नहीं, पर एक बार दिन-भर की दौड़-धूप के बाद, बगैर कोई कार पसंद किए, हम घर लौटे तो निर्मल जी की बेचैनी आसमान पर थी। वे बिगड़ गए। मैंने उनके गुस्से की उपेक्षा करते, शायद कुछ उनके दिए अधिकार से आग्रह किया कि कार जरूरी है, जो आएगी। इस उम्र और आपके ऐसे स्वास्थ्य में जाने कब उसकी जरूरत पड़ जाए। इस बात पर वे नरम पड़ गए। मैं जानता हूं कि बाद में उन्होंने गगन की कार में इतने चक्कर घर और अस्पताल के बीच लगाए कि पुरानी कार के पैसे इसी में वसूल हो गए। आखिरी दिनों में तो ऐसा लगता था वे अस्पताल से घर सिर्फ लौटने के लिए आते हैं।

पिछले वर्ष जब उन्होंने पचहत्तर वर्ष पूरे कर लिए, उनका जन्मदिन मनाने के लिए कुछ लेखकों-कलाकारों को मैंने अपने घर बुलाया था। नामवर सिंह, कुंवर नारायण, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, के बिक्रम सिंह, शमशाद हुसेन आदि बहुत-से आत्मीय लोग थे। उस रात अपने अशोक वाजपेयी से उन्होंने गरमागरम बहस की और जिन वैद जी से कुछ खिंचे रहते थे, उनके गले में बाहें डाल कर देर बतियाते रहे। यह उनके व्यक्तित्व का द्वैध नहीं था, खूबी थी। अगले रोज हमारी बेटी अपरा उनके घर जाकर, उन्हें एक घंटे एकटक बैठे रहने की जहमत देकर, एक पोर्ट्रेट बनाकर दे आई। और हमारे तईं उनका अमृत महोत्सव इस श्रद्धा में संपन्न हुआ।

निर्मल जी से आत्मीय रिश्ते का एक नया आयाम सिनेमा भी बना। नाटक, संगीत और सैर-सपाटे के बाद मेरे फितूर का नया पड़ाव सिनेमा था। यह उनकी पुरानी कमजोरी निकला। दिल्ली में फिल्म क्लब की वे बहुत-सी फिल्में देख लेते थे। हमारे घर में किताबें तक रखने को जगह नहीं थी और घरवालों के टोकते-न-टोकते मैंने विश्व-सिनेमा के क्लासिक जुटाने शुरू कर दिए। एक होम-थियेटर भी कमरे में स्थापित कर दिया। निर्मल जी ने इस जुनून की खुले दिल से तारीफ ही नहीं की, हमने मिलकर जब-तब घर में फिल्मी अड्डा जमाना शुरू कर दिया। जब अकीरा कुरोसावा की 'ड्रीम्स' मैं बाहर से लाया और उनके साथ घर में उसका 'प्रीमियर' किया (बाद में फिल्म आईआईसी फिल्म-क्लब में भी दिखाई) तो उस पर लंबी चर्चा उन्होंने की।

उन्होंने 'ड्रीम्स' पर मेरी राय पूछी तो मैंने कहा कि फिल्म में सब कुछ जरूरत से ज्यादा व्यक्त है। उन्होंने आंखों में जानी-पहचानी चमक लाकर दाएं हाथ की अंगुली की मद्धम हिलोर के साथ सहमति प्रकट करते हुए कहा- 'हां, बहुत 'लाउड' है।' निर्मल जी को छोड़ मुझे एक व्यक्ति अब तक नहीं मिला है जो 'ड्रीम्स' की मुक्त कंठ से कोरी प्रशंसा न करता हो। फिल्म का झोल निर्मल जी बड़ी खूबी से पकड़ते थे।

नागरी में प्रचुरता में उपलब्ध उर्दू साहित्य निर्मल जी मेरे खयाल में कुछ कम पढ़ते थे। ऐसा अनुमान मुझे तब होता जब किसी प्रचलित गजल का कोई शे'र प्रसंगवश बोल देने पर वे शे'र की बारीकी पर बहुत विस्मित होते और बाकी शे'र भी सुनाने को कहते।

एक बार मैंने उन्हें पूछा कि आपने गालिब का घर देखा है? मेरा मतलब बल्लीमारान में गालिब की हवेली से था। उन्होंने कहा नहीं। उस वक्त मंजूर एहतेशाम भी उनके यहां आए हुए थे। हम लोग रात को खाना कहां मिलेगा, यह बात भी कर रहे थे। निर्मल जी ने कहा, रात में पुरानी दिल्ली की तरफ यातायात कम रहता है, उधर ही चलिए, बल्लीमारान भी हो आएंगे। रात आधी हो चली थी। हमने हवेली की सैर की। तब हवेली में एक पीसीओ और सिगड़ी का एक घरेलू कारखाना चला करता था। बाद में हवेली को अजायबघर का रूप दिया गया और रात के मुसाफिरों के लिए गालिब के घर के दरवाजे बंद हो गए।

मुझे यह देखकर तकलीफ हुई कि निर्मल जी की मृत्यु के डेढ़ घंटे बाद ही उनके विवादास्पद विचारों की चर्चा टीवी पर एक इंटरव्यू में शुरू हो गई। जो विचार एक प्रसिद्ध कथाकार ने व्यक्त किए, वे सही होंगे; मगर वह वक्त एक बड़े रचनाकार को श्रद्धांजलि देने का था, न कि उनके वैचारिक अंतर्विरोध ढूंढ़ने का। निर्मल जी कथाकार थे, निबंधकार थे और उन्होंने यात्रा-संस्मरण और रिपोर्ताज लिखे। मुझे नहीं खयाल पड़ता कि उन्होंने इन विधाओं में एक भी रचना भाजपा के समर्थन या प्रचार में लिखी हो। महज कुंभ मेले जैसे रिपोर्ताज या 'अंतिम अरण्य' में एक हिंदू पात्र के कर्मकांड के वर्णन से उन्हें दकियानूसी ठहरा दिया जाए तो यह साहित्य को साहित्य की नजर से देखना नहीं होगा। यह मेरी एक पाठक के नाते, निर्मल वर्मा के कई राजनीतिक विचारों से असहमति के बावजूद विनम्र राय है। प्रेमचंद को इस नजर से देखने का भला क्या औचित्य होगा कि धनिया ने अंत में पंडित को गांठ से निकालकर 'गो-दान' के लिए पैसे दिए थे!

निर्मल जी जब चिता पर लेटे थे, श्मशान घाट पर भी ऐसी चर्चा सुनी गई। एक आलोचक का कहना था कि बाबरी मस्जिद के ढहाने का निर्मल वर्मा ने विरोध नहीं किया, पर इसकी चर्चा उन्हें लगता है फिर कभी होगी। मेरा सुझाव है कि चर्चा जब भी हो, विरोध की पड़ताल करने वालों को यह भी पता कर लेना चाहिए कि क्या निर्मल जी ने बाबरी मस्जिद ढहाने का कभी समर्थन किया था? गौर करने की बात होगी कि मस्जिद के शर्मनाक कांड के वक्त निर्मल जी विदेश में थे। हार्वर्ड में उन्होंने हादसे के तीन दिन बाद अपनी डायरी में लिखा था ('धुंध से उठती धुन' में संकलित): ''तीन दिन पहले अयोध्या की मस्जिद ढहा दी गई। कभी-कभी रात को नींद खुल जाती है और लगता है, यह एक दु:स्वप्न है, जो बीत जाएगा। और यह भाव और भी

होता है? भारत से जो खबरें आती हैं उनका 'डिप्रेशन' अलग है। भोपाल, बंबई... जब मैं सोचता हूं, कैसे लोगों को उनके घर से घसीटकर मारा जाता है, तो वह कल्पना ही असहनीय लगती है। उस भयावह यथार्थ के सम्मुख 'धर्म' जैसी चीज कितनी काल्पनिक जान पड़ती है।''

कहना न होगा कि मस्जिद को उन्होंने संघी या भाजपाइयों की तरह विवादित ढांचा नहीं कहा और धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा पर सिर्फ वेदना प्रकट नहीं की, उसे दुत्कारा भी।

यह सही है कि निर्मल जी बाद के वर्षों में भारतीयता की बात करते थे। कभी उनकी बात मुझे समझ आती, कभी नहीं। उनके कुछ विचार जानकर मुझे कभी-कभी कोफ्त होती थी। गुजरात नरसंहार के विरोध में मैं चाहता था कि एक बयान पर वे दस्तखत कर दें। इसके लिए मैं उनके घर गया। मैं जानता था कि उनके राजनीतिक विचार कुछ भी हों पर वे सांप्रदायिकता के निश्चय ही विरोधी हैं। पर उन्होंने दस्तखत करने से साफ इंकार ही नहीं किया, उत्तेजित हो गए और कहा कि हमारी अभिव्यक्ति की अपनी विधाएं हैं; तुम्हें भी इस बयानबाजी में क्यों पड़ना चाहिए?

मुझे बेचैनी हुई, पर मैंने उन्हें गलत नहीं समझा। इस प्रसंग पर बाद में सोचते हुए मुझे रसूल गमज़ातोव के दिल्ली प्रवास की एक चर्चा का स्मरण हुआ। उनसे पूछा गया था कि बेंजामिन मोलाइस की फांसी पर उन्होंने कविता नहीं लिखी, जबकि बहुत-से प्रतिबद्ध कवियों ने लिखी थीं। रसूल ने जवाब दिया कि 'तब मैंने उस घटना पर एक लेख लिखा था।' वे बोले- 'जब मुझे लेख लिखना हो लेख लिखता हूं, भाषण देना हो तो भाषण देता हूं; कविता तभी लिखता हूं जब किसी और विधा में यह संभव न हो।'

एम्स में कई बार की आमदरफ्त के बाद निर्मल जी उस अंतिम अरण्य से बाहर निकल गए हैं। वे तकलीफ में थे और उससे बरी हुए। हिंदी साहित्य को उन्होंने इतना दिया है कि उनके न रहने का दुख शायद विलय होता जाएगा। मगर मुझे एक निजी कसक बहुत सालती रहेगी। मेरे यूरोप से लौटने पर एक रात उनका मोबाइल पर फोन आया। आवाज इतनी भारी और बदली हुई थी कि मैं पहचान नहीं सका। उन्होंने तंज किया कि- 'अब हम पहचान से भी गए।' पर उनके वाक्य के बीच में ही मैं ताड़ गया था। उन्होंने फिर मजाक किया, 'आजकल विदेश में ही रहते हो!' मैंने भी उसी लहजे में कहा- 'हां, आजकल मैं नॉन-रेजिडेंट एडीटर हो गया हूं!' कब आओगे- उन्होंने पूछा। मैंने कहा, 'आप कहें तो अभी, वरना परसों, क्योंकि मैं कल बाहर रहूंगा।'

उन्होंने कहा, 'परसों आओ'।

इस बीच उनको एम्स से छुट्टी मिल गई।... मैं रायपुर गया। वहां गगन का फोन आया कि तबीयत फिर बिगड़ गई है, हम एम्स जा रहे हैं।... रायपुर से लौटा तो वे ऐसी तंद्रा में गए कि वापस नहीं आए।

इतनी ही तसल्ली है कि आखिरी बार उनके पास पहुंचा, तब सांस चल रही थी। मैंने उन्हें देखा। मुड़ा। और पीछे उन्होंने भी मुंह मोड़ लिया।